नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया

सोहनलाल बाफना
संचालक, साहित्य निकेतन
४०६३, नया बाजार, दिल्ली
की ओर से सादर भेंट।

नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया

लेखक
मुनिश्री नगराजजी
सम्पादक
सोहनलाल बाफणा

प्रकाशक
साहित्य निकेतन
४०९३, नयाबाजार, दिल्ली

प्रकाशक
सोहनलाल बाफणा
संचालक
साहित्य निकेतन
४०६३, नयाबाजार, दिल्ली।

•

द्वितीय संस्करण
जून १९६२

•

मूल्य : २५ नये पैसे

•

मुद्रक
रामस्वरूप शर्मा
राष्ट्र भारती प्रेस, कूचा चेलान, दिल्ली।

प्राक्कथन

कहा जाता है कि "राम लंका-विजय के पश्चात् जब अयोध्या आये तो एक बहुत बड़ा समारोह किया गया। राम राज्य-सिंहासन पर बैठे और युद्ध में साथ देने वाले वीरों को एक-एक करके पारितोषिक देने लगे। हनुमान को छोड़कर सबको पारितोषिक दिया। अन्त में किसी के याद दिलाने पर राम ने हनुमान को भी अपने सम्मुख बुलाया और कहा—हनुमान ! तुम क्या चाहते हो ? हनुमान ने विनम्र भाव से उत्तर दिया—मैं चाहता हूँ, जैसे अब तक मैं आपकी सेवा करता रहा, भविष्य में भी वैसे ही करता रहूँ। राम ने कहा—मैं और सब कुछ दे सकता हूँ, पर यह नहीं दे सकता, क्योंकि तुम जो चाहते हो, वह तभी सम्भव हो सकता है, जब मुझे पुनः वनवास मिले, कोई दूसरा रावण सीता का अपहरण करे और तुम मुझे सेवा दो, यह मैं कैसे चाह सकता हूँ ? हनुमान चुप होकर अपने आसन पर जा बैठे।" इस मनोरंजक उदाहरण से विचारकों के लिए एक नया चिन्तन-मार्ग खुल जाता है। समाज में अब तक यह बद्धमूल संस्कार रहा है—सबकी सेवा करो। यही कारण है, लोग उत्पन्न कष्टों को मिटाने का ही प्रयत्न करते हैं। उन कष्टों के मूल को मिटाने का प्रयत्न नहीं करते। देश में भिखमंगे अधिक हो जाते हैं, लोग कहते हैं उन्हें दान करो। उनका दुःख दूर होगा, पर परिणाम यह होता है कि उन्हें आजीवन के लिए भिखमंगा बना दिया जाता है और दान देकर उनकी बढ़ोतरी की जाती है। लोग यह नहीं सोचते, आखिर गरीबी का कारण शोषण व संग्रह है। यदि हम इन कारणों को मिटा देंगे तो समाज में न भिखमंगी रहेगी और न दानवीरता। राम और हनुमान के

से यह स्पष्ट हो जाता है, सेवा चाहने वाला अव्यक्त रूप से व्यक्ति और समाज की कष्ट-परम्परा को चाह लेता है।

'चक्कवत्ती सीहनादसुत्त' नामक बौद्ध ग्रन्थ मे लिखा है—दृढ़नेमि चक्रवर्ती की परम्परा मे सात चक्रवर्तियों ने अहिंसा, सत्य आदि पंचशीलों का प्रचार चालू रखा इसलिए उनके राज्य मे गरीबी व गरीबी से पैदा होने वाले और दुर्गुण जनता में नहीं आये। आठवें चक्रवर्ती ने पंचशील का प्रचार छोड़ दिया। परिणामस्वरूप लोग संग्रह-प्रिय हो गये। जो संग्रह-कुशल नहीं थे, उन लोगो मे दारिद्रय छा गया। दारिद्रय के कारण लोग चोरी करने लगे। पहला चोर जब पकड़कर राजदरबार में लाया गया तो राजा ने उससे पूछा—तुम चोरी किसलिए करते हो? चोर ने उत्तर दिया—धनाभाव के कष्ट से। राजा उदार था, उसने उस चोर को यथोचित धन दिया और कहा भविष्य में चोरी न करना। नगर में यह चर्चा फैल गई कि जो चोरी करता है उसे राजा धन देता है। थोड़े ही दिनों में सहस्रो लोग चोरी करने लगे। राजा का कोष खाली हो गया और शहर में अव्यवस्था फैल गई। तब राजा ने पुनः पंचशील का प्रचार आरम्भ किया और शनैः शनैः उस अव्यवस्था को मिटाने मे सफल हुआ। आज की समाज-व्यवस्था मे भी यह चिन्तन उभर आया है कि दान करो, सेवा करो आदि उद्घोषों से समाज आधिमुक्त और व्याधिमुक्त नहीं होगा। 'नवीन समाज-व्यवस्था मे दान और दया' नामक प्रस्तुत पुस्तक मे इसी विषय पर सुविस्तृत विवेचन किया गया है। समाज के नये निर्माण और बदलते हुए मूल्यों में विचारक समाज इस ओर चिन्तन के लिए प्रेरित होगा, ऐसी आशा है।

सम्वत् २०१४, कार्तिक शुक्ला ८
नयाबाजार, दिल्ली

मुनि नगराज

आरम्भ और हेतु

मनुष्य की जीवन-व्यवस्था जब से व्यष्टि रूप से समष्टि रूप में परिवर्तित हुई, तब से ही दान-प्रथा का उदय हुआ; ऐसा लगता है। समष्टि जीवन में आकर मनुष्य ने घर बनाये, गांव व नगरों की रचना की, पंचायत और राज्य-व्यवस्था का निर्माण किया। उन्हीं दिनों पारिवारिकता और सामाजिकता को भी उसने जन्म दिया। समष्टि-जीवन की उस परिकल्पना में जो अधूरापन रहा, वह यह था कि अनाथ, अकर्मण्य, अपांग व्यक्तियों के जीवन-यापन की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। तथाप्रकार के व्यक्तियों की बढ़ोतरी सामाजिक व्यवस्थापकों के सामने समस्या होकर आई। उसका जो तात्कालिक समाधान सोचा गया, वह यह था कि धनी और ऐश्वर्यशील व्यक्ति उन गरीबों के लिए कुछ दान करें। किन्तु संग्रह करना जिनके जीवन का ध्येय था, उन धनियों द्वारा दान का स्वीकरण कठिन ही नहीं, असम्भव के लगभग था। लगता है, समाज के कर्णधारों ने उन्हीं परिस्थितियों में दान को धर्म का अंग बनाकर और दानियों को स्वर्गीय सिंहासन का प्रलोभन दिखलाकर उनकी थैलियों के मुँह दीन-अनाथों के लिए खुलवाये। इस प्रकार दान-धर्म का जन्म हुआ।

यह केवल कल्पना की ही बात नहीं अन्य बहुत सारी सामाजिक जीवन की समस्याओं को भी हल करने का यही मार्ग अपनाया जाता था; क्योंकि धर्म पर व्यक्ति की बुद्धि केन्द्रित थी। अतः जो उससे करवाना हो, वह धर्म के नाम पर ही सहज सम्भव हो सकता था। यही तो कारण

था कि हिन्दूधर्म में जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त संस्कारों व क्रिया-काण्डों पर धर्म की छाप लगा दी गई। रहन-सहन व वेशभूषा जैसे सामान्य व्यवहार भी धर्म के विशेष अंग बना दिये गये। अर्थात् निरूपकों को जो रहन-सहन, वेशभूषा व अन्य संस्कार पसन्द थे, वैसे ही लोग चलें, इसलिए उन्होंने जनता की निष्ठा इस ओर केन्द्रित करने के लिए उन सबका सम्बन्ध धर्म से जोड़ दिया। धनी और ऐश्वर्यशीलों के लिए यह अत्यन्त आनन्द और उल्लास का विषय हुआ कि वे अपने कौशल व अनीतिमय आचरणों से धन-संग्रह कर लौकिक व्यवस्था के सर्वेसर्वा बने रहें, भौतिक सुख-सुविधाओं का आनन्द लेते रहें और उसी धन से थोड़ा-सा दान कर लोकोत्तर व्यवस्था के भी अधिनेता बनें। यह प्रश्न सम्भवतः तात्कालिक विचारकों के मस्तिष्क में नहीं आया होगा कि बेचारे गरीबों की कष्ट-मुक्ति आखिर किस लोक में होगी; क्योंकि उनके पास धन नहीं है तो लौकिक और लोकोत्तर सुख को वे कैसे खरीद सकेंगे ? किन्तु कुछ भी हो प्रथा चली और चलती रही। समाज में भिख-मंगी बढ़ने लगी, क्योंकि धनियों ने अपनी थैलियों के मुख लोकोत्तर सुख की व्यवस्था में खोल रखे थे। सहस्रों वर्षों के इतिहास में तथाप्रकार की दान व्यवस्था के विरोध में कोई क्रान्ति नहीं उठी; क्योंकि दोनों ही वर्गों के स्वार्थों का यहाँ पूर्ण समझौता था। निम्नवर्ग तथाप्रकार के दानग्रहण में अपनी लौकिक सद्गति मान रहा था और धनीवर्ग अपने लोकोत्तर अभियान के सफल होने का विश्वास कर रहा था।

दान से अधिकार

युग बदला, स्थितियाँ बदलीं। मानव के सहस्राब्दियों से सुषुप्त मानस में चेतना उद्दीप्त हुई और वह जीवन के प्रत्येक पहलू को एक शल्य-चिकित्सा की विधि से देखने लगा। परिणामस्वरूप राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में नाना प्रकार के मानदण्ड स्थापित हुए। ऐसी स्थिति में उस

मानव की तीक्ष्ण निगाहों से दान भी शल्य-चिकित्सा की मेज पर आये बिना कैसे रह सकता था ? यह आज का युग है जिसमें सहस्राब्दियों से पद्-दलित मानवता ने स्वाभिमान की सांस ली है। आज का गरीब, याचक और शोषित दान नहीं चाहता, वह अपने अधिकारों को पाने के लिए कटिबद्ध है। उसका अभिमत है—कोटि-कोटि गरीब जनता का मनमाना शोषण कर आज जो उसे जूठी रोटी या एक बचा टुकड़ा देकर सन्तोष कराया जाता है; वह ऐसे दान-धर्म को नहीं चाहता। सही बात तो यह है कि एक ओर शोषण चल रहा है और दूसरी ओर दान। यह तो इस कहावत को चरितार्थ करनेवाली बात है—

एरण की चोरी करी दियो सुई को दान।
ऊँचो चढ़कर देखण लागी कितोक दूर विमान॥

सुनार की पड़ोसिन ने आँख बचाकर रात को उसका एरण उठा लिया और सुबह होते ही किसी राह चलते भिखमंगे को एक सुई का दान कर ऊपर देखने लगी कि मेरे दान-पुण्य के प्रभाव से अवश्य कोई स्वर्ग का विमान मुझे ले चलने के लिये आयेगा। अस्तु, इसलिये वह चाहता है कि दान करने की मनोवृत्ति को छोड़कर शोषण न करने की ही मनोवृत्ति को अपनाया जाये। इससे समाज में ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात होगा जिसमें दानी और याचक दूसरे शब्दों में 'अहं' और 'हीनता' का कोई स्थान ही न रहेगा।

सर्वोदय के क्षेत्र में

भारतवर्ष एक आध्यात्मिकता प्रधान देश है और आज वह एक नई समाज-व्यवस्था की सीढ़ियों पर अग्रसर हो रहा है। ऐसी स्थिति में ऋषि-महर्षियों के प्राचीन सन्देशों व आज की नवीनतम विचारधाराओं के विकास सम्बन्धी इतिहास को हृदयंगम करते हुए अन्यान्य पहलुओं की तरह दान-प्रथा पर भी एक तटस्थ निगाह से विचार कर लेना परम

आवश्यक प्रतीत होता है । ऐसे तो समाज-प्रणेताओं ने समय-समय पर इस सम्बन्ध में बहुत सारे विचार दिये हैं। महात्मा गांधी कहते हैं—"बिना[1] प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चंगे मनुष्य को मुफ्त में खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकती। अगर मेरा बस चले तो जहाँ मुफ्त खाना मिलता है ऐसा प्रत्येक 'सदाव्रत' या 'अन्नछत्र' मैं बन्द करा दूँ।"

जीवन-व्यवहार में सर्वोदय का विचार करते हुए सुप्रसिद्ध सर्वोदयी लेखक श्री भगवानदास केला लिखते हैं[2]—"कुछ आदमी सोचते हैं कि हमें अपने काम से इतनी अधिक आय होनी चाहिए कि हम दान-धर्म, तीर्थयात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय-समय पर ब्राह्मण-भोजन व जातीय-भोज कराकर उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नहीं। अनुचित कार्य कर धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है, जैसा कीचड़ में पाँव रखकर पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करने वाले को दान-पुण्य आदि की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए। उसका काम ही यज्ञ रूप है।"

इस प्रकार जहाँ भी नई समाज-व्यवस्था का चिन्तन होता है, लगभग सभी एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। लोकतन्त्र के प्रशस्त व्याख्याता प्रो० आर० आर० कुमरिया 'साइकोलोजिकल फाउण्डेशन ऑफ दी स्टेट' में 'समाजसेवा और दान' शीर्षक में लिखते हैं[3]—

---

१. सर्वोदय दिसंबर सन् ६८ तथा गांधी वाणी पृष्ठ १११

२. सर्वोदय दैनिक जीवन में, पृष्ठ ४०

3 Charity does not destroy suffering, it only gives a bit of relief to a person who is suffering. Under democratic social welfare schemes our object is to destroy suffering through a collective effort. Because the happiness of one and all is aimed at the effort of one and all is required

"दान कष्टों का नाश नहीं करता। वह दु:खी को एक क्षणिक सन्तोष देता है। जनतान्त्रिक समाज के निर्माण में हमें सामूहिक प्रयत्नों द्वारा कष्टों का समूल अन्त करना है; क्योंकि यहाँ सबका सुख अभीष्ट है। इसलिए सबका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सब लोगों के सुख-निर्माण में सब लोगों ने भाग लिया; अतः कोई किसी का अहसानमन्द नहीं है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है। मानवता की कीमत उस समाज में सुरक्षित नहीं रह सकती, जिस समाज में दान (Charity) अनुकम्पा (Compassion) और दया (Kindness) का ऊँचा मूल्य माना गया है। मानवता केवल उस समाज में सुरक्षित रह सकती है जहाँ मनुष्य की इच्छाओं की वृद्धि सामूहिक और सहयौगिक प्रयत्नों द्वारा ही होती है। सहयोग ही ऐसे समाज का आधार है और उस जनतान्त्रिक समाज में यही सर्वोत्कृष्ट गुण है।"

ऐसा लगता है आज के युग में तथाप्रकार की दानप्रथा की अनुपयोगिता के विषय में कोई विचारक दो मत नहीं होंगे; क्योंकि आज स्वाभिमानी राष्ट्र वही माना जाता है जो इस बात का गौरव रखता है कि हमारे देश में भिखमगे और भिखमगी नहीं हैं, न कि यह जिसमें सत्तर लाख भिखमगे हैं और लोगों की दानवीरता के कारण उनकी आजीविका चलती है। इसी का परिणाम है कि आज भारतवर्ष की प्रान्तीय शासन-व्यवस्थाओं में स्थान-स्थान पर भिक्षा-निरोधक बिल आ

---

to achieve it. And because everybody has contributed towards its achievement, nobody is under the obligation of anybody and thus, the human dignity is maintained. Human dignity cannot be maintained in a society in which charity, compassion and kindness are prize values. It can be maintained only in a society in which satisfaction of human wants is achieved through co-operative and collective effort. Co-operativeness is the hub of such a society It is the highest virtue.

रहे हैं और सभी सरकारें तथाप्रकार की भावनाओं को चरितार्थरूप देने में प्रयत्नशील हैं।

शास्त्रकारों की दृष्टि में

प्रश्न केवल यही रह जाता है; गरीब, अनाथ, अपांगों को प्रचलित प्रथा से कुछ दे देने की पद्धति न भी रहे किन्तु सामूहिक सेवाभाव से, वैयक्तिक प्रयत्नों से या किसी संस्था आदि द्वारा बहुजन संचालित प्रयत्नों से जो कार्य भारतीय संस्कृति में हमेशा से हो रहा है और प्रस्तुत युग में भी यथासाध्य जिसे बढ़ावा मिल रहा है क्या उसकी भी कोई उपयोगिता नवीन समाज-व्यवस्था में नहीं रहेगी? प्रश्न गम्भीर है; क्योंकि एक ओर ऐसी समाज रचना का कार्य सामने है जिसमें बहुत सारे मानदण्ड आमूल परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं और एक ओर उन संस्कारों का जन-जन के मस्तिष्क पर अमघट है जिन पर सहस्राब्दियों से धर्म, पुण्य व मोक्ष की छाप लगाई जा रही है। किन्तु स्थिति यह है कि बहुत सारे कार्य समाज में ऐसे प्रचलित हैं, जिन पर प्रणेताओं ने धर्म व पुण्य की छाप नहीं लगाई थी, किसी एक मर्यादा में तथाप्रकार के कार्यों में धर्म व पुण्य के होने का निरूपण किया था। किन्तु वे ही कार्य जनता के अन्ध-विश्वासों के कारण रूढ़ियों में परिणत होकर विकृत रूप ले रहे हैं। जैसे दान का ही प्रसंग है जहाँ तक शास्त्रकारों का सम्बन्ध है उन्होंने तो कहा—[1]"सत्पात्र को दान करने वाले भी थोड़े और सत्पात्रता के आधार पर जीने वाले भी थोड़े हैं। इसलिए सत्पात्र को दान देने वाले और सत्पात्र से लेने वाले दोनों सद्गति को प्राप्त होते हैं। गीताकार दानमात्र को सात्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन भेदों में विभक्त करते हैं— "दान वह है जो दिया जाता है और सात्विक दान वह है जो देश, काल

१—दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छन्ति सोग्गइं ॥ द० अ० ५। १००

और पात्र के विवेक से अनुपकारी व्यक्ति को दिया जाता है। जो प्रत्युपकार की दृष्टि से फल-आकांक्षा के लिए व परिक्लिष्ट वृत्ति से दिया जाता है, वह राजसिक दान है और जो देश, काल व पात्र का विवेक किये बिना अर्थात् अनुद्देश, असत्काल और असत्पात्र को दिया जाता है वह तामसिक दान कहा जाता है।[1] उक्त तीन दानों में मोक्ष का हेतु व धर्म, पुण्य का हेतु कहा जाने वाला दान केवल सात्विक दान है। यहाँ अब यह देखना है कि आज समाज में जो दान का दौर चल रहा है, उसमें सात्विक दान कहाँ तक है और राजसिक तथा तामसिक कहाँ तक ? जहाँ दानी के लिए बताया गया है, फल या प्रत्युपकार की भावना से दान न करें वहाँ आज के दानी इन्हीं दो तत्त्वों को दान का उद्देश्य बना बैठे हैं।

आज के दानवीर

आज का दान यश और कामना के विषैले कीटाणुओं से बुरी तरह आक्रान्त है। आज का दानी किसी भी सार्वजनिक संस्था को दान करने समय या तो शर्त ही कर लेता है या अभिप्राय समझ लेना चाहता है कि मेरा वहाँ फोटो लगेगा या मेरा शिलालेख में नाम खुदेगा या नहीं ? ऐसा कार्य करने वाली ऐसी विरली ही संस्था मिलेगी, जिसके साथ संचालक ने अपना नाम न जोड़ दिया हो। आज जहाँ लोग भगवान् का मन्दिर बनवाते हैं, वहाँ भगवान् गौण हो जाते हैं और मन्दिर के प्रारम्भ में बनाने वाले की जाति व नाम जुड़ जाता है। नामोल्लेख के उक्त

---

१. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥ गीता अ० १७

प्रकार के उपक्रमों में साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि नाम-संयोजन के पीछे कोई भी आवश्यकता या महत्त्वपूर्ण आदर्श नहीं है। फिर भी यही तत्त्व आज के दान का अनन्य हेतु बन रहा है।

आज के दान में विवशता भी एक हेतु बन जाती है। बहुत सारे लोग दान देना चाहते नहीं, किन्तु उत्साही लोग कोई चन्दे की योजना खड़ी कर देते हैं और कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों को साथ लेकर सामने आ बैठते हैं, तब उन्हें दो-चार बार टालमटोल करने के बाद कुछ लिखना ही पड़ता है। पिछले दिनों कुछ व्यक्ति मिले जो बता रहे थे कि अमुक-अमुक गण्यमान्य व्यक्ति भूदान के सिलसिले में पदयात्रा करते हुए जब हमारे शहर आये तो सब लोगों की तरह हमें भी कुछ भूमि उन्हें दे देनी पड़ी। किन्तु अब हम इस खोज में हैं कि कोई दूसरी सस्ती भूमि मोल मिल जाये तो वह देकर हम अपना कौल पूरा कर देंगे; क्योंकि हमारी भूमि अधिक उपजाऊ है और उसकी अधिक कीमत है। अस्तु; यहाँ कोई भूमिदान व उसके कार्यकर्ताओं की समालोचना नहीं है, पर यहाँ तो आज के दानियों के मानस की स्थिति का एक चित्रण है।

आज के दानपात्र

शास्त्रकारों ने पात्र को देखकर याने सुपात्र को दान करने की जहाँ बात कही, वहाँ उन्होंने सुपात्र के लक्षण बतलाये[१]—जैसे मधुकर फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर सन्तोष करता है उसी प्रकार ज्ञानी और जितेन्द्रिय मुमुक्षु मधुकरी वृत्ति से अपने संयमपूर्ण जीवन निर्वाह के लिए भिक्षा-ग्रहण करते हैं। आज के दान-पात्र उक्त सत्पात्रता की मर्यादा में कहाँ तक आते हैं, यह आलोचना का विषय है; क्योंकि भिखमंगी आज एक पेशा बन गया है। सहस्रों हट्टे-कट्टे लोग कैसे इस काम में निपुणता प्राप्त

१. जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥

कर समाज में अकर्मण्यता व बेकारी फैला रहे हैं इसका भी एक हृदय-द्रावी इतिहास बनता है। यहाँ तक कि पेशेवर भिखमंगे स्वस्थ बालकों को विकलांग कर उनसे अपनी भिखमगी का व्यवसाय चलवाते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण प्रत्यक्ष अनुभव में आये हैं।

विगत वर्ष की घटना है; देहली में जब हम थे, उसी समय एक जैन तेरापंथी दम्पती लगभग १०-१२ वर्ष के एक बालक को साथ लिए दर्शनार्थ आये। उन्होंने बताया कि यह लड़का गेरुक वस्त्रधारी भिखमंगों के चंगुल में था। यह बड़ा दुःखी था। कल हम लोगों ने इसे वहाँ से निकाला। पूछे जाने पर इस बालक ने हमें अपना जीवन-वृत्तान्त बताया। उसने कहा—"मैं दक्षिण में बंगलोर के पास किसी एक ग्राम में रहने वाले मिल-मजदूर का बालक हूँ। एक दिन जब मैं घर से घूमने के लिए निकला था, तब कुछ गेरुक वस्त्रधारी बाबा लोग मुझे मिले और मुझे मिठाई, फल आदि खिलाये। फिर वे मुझे अपने साथ चलने का आग्रह करने लगे और कहा—'तुम्हें दिल्ली ले चलेंगे और वहाँ सिनेमा व और भी बहुत सारी चीजें दिखलायेंगे। वापस यहाँ लाकर छोड़ देंगे'। मैं उनके भुलावे में आ गया। बहुत दिनों तक उनके साथ भटकता रहा। गेरुक वस्त्र पहनाकर वे मुझे भी अपने साथ रखते और भीख मांगने का तरीका सिखलाते। एक दिन एक सुनसान स्थान में उन्होंने जबरदस्ती मेरी जीभ में लोहे का बड़ा काँटा आर-पार कर दिया। इससे मैं तीन दिन तक बेहोश-सा पड़ा रहा। बुखार भी हुआ था। उसके बाद जीभ में वह छेद स्थायी रूप से बन गया और ऊपर की व्याधि धीरे-धीरे मिट चली। उसके बाद शहर में जाते समय मेरी जीभ के उस

एमेए समणा मुत्ता जे लोए सन्ति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ॥३॥
महुकारसमा बुद्धा जे भवन्ति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दन्ता तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥४॥ दश० अ० १

छेद में एक छोटा त्रिशूल लटका देते और जीभ बाहर रखवाकर दयावनी शक्ल में मुझसे भिखमंगी करवाते। मैं भी वैसा ही करने लगा। दिन में जितने पैसे इकट्ठे करता, सायं उनके सामने रख देता। वे हमेशा यही कहते कल इससे और अधिक लाना। देहली में ऐसा करते कुछ समय बीता पर मैं प्रायः दिन अधिक-से-अधिक पैसा नहीं ला सकता था। तब वे लोग मुझ पर बहुत बिगड़ते। कभी वे ज्यादा पैसे लाने के लिए सिनेमा दिखलाने का लालच देते और कभी मार-पीट करने की धमकी भी। एक दिन जब उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि तू बड़ा हराम है। जान-बूझकर पूरी मेहनत नहीं करता। बस यदि इतने पैसे नहीं लायेगा तो हम लोग तुझे किसी कुएँ में डाल देंगे। मैं उससे एक-दम घबरा गया व दूसरे दिन जब हमारी टोली मांगने के लिए चाँदनी चौक से निकली, मैं आँख बचाकर मालीवाड़े की ओर निकल पड़ा। मैं इस स्थिति में था कि किसे कहूँ और क्या कहूँ? आखिर मुहल्ले के बीच जैसे मैं शरीर पर मोर की पांखें लगाये, जीभ पर त्रिशूल पिरोये, गेरुआ वस्त्र पहने, भिखमंगी कर रहा था, उसी वेश में मैंने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया—"अरे मुझे कोई बचाओ, मुझे कोई बचाओ मैं मारा जाऊँगा।" कुछ आदमी इकट्ठे हुए। उनमें से ये लोग (साथ लाने वाले तेरापंथी दम्पती की ओर संकेत कर) मुझे अपने घर ले गये और मेरी सारी जीवन घटना इन्होंने सुनी। इसके पश्चात् इन्होंने मेरा भिखमंगी का चोगा छुटवाकर अच्छे कपड़े पहनाए और अपने बच्चे की तरह मुझे खिलाया।" उपस्थित बहुत सारे लोगों ने देखा उसकी जीभ में एक बड़ा छेद था।

इसी प्रकार एक अठारह वर्षीय युवक गुम होने के बारह महीने बाद अपने घर आया। उसने भी बताया—"जब मैं बंगाल में अपने निवास-स्थल से किसी दूसरे गाँव की ओर जा रहा था, उसी समय दो-चार आदमी मुझसे मिले और कहने लगे हमें भी वहीं जाना है जहाँ तुम जा रहे हो। मैं उनके साथ-साथ चलने लगा। 'यह रास्ता सीधा है' कहकर

वे मुझे एक घने जंगल में ले गये। वहाँ गुफा में एक बाबा रहते थे। मुझे ले जाकर उन्हें सौंपा। उन लोगों को बाबा ने १००) रुपये दिये और वे चले गए। बाबा आठ प्रहर चौसठ घड़ी कड़ी निगाह से मेरी निगरानी रखते। मुझे निकलने का कोई मौका नहीं मिला। मैं बाबा की बहुत सेवा करने लगा। धीरे-धीरे मुझे पता चला कि बाबा किसी देवी की साधना कर रहे हैं और बलि के लिए मुझे यहाँ लाया गया है। मैं यह जानकर मन में बहुत घबराया पर ऊपर से बाबा को यह विश्वास हो गया कि मेरे साथ यह घुलमिल गया है तथा मेरा पक्का चेला बन गया है। एक दिन वे गुफा छोड़कर मथुरा की ओर जाने वाले थे। तीन सौ रुपये उन्होंने मुझे दिए और कहा—"आराम से रहना, मैं कुछ दिनों बाद आऊँगा।" बाबा चले गए तो एक दो दिनों के बाद मैंने भी वहाँ से अपना रास्ता लिया।"

कौन नहीं जानता इस भयंकर भिखमंगी का मूल कहाँ है? भिखमंगी के व्यवसाय ने भी नाना रूप ले लिए हैं। कुछ भिखमंगे ऐसे हैं जो साधु-संन्यासी के पवित्र वेश में अपनी पूजनीयता या दया-पात्रता दिखलाकर पेट भरा करते हैं। साधूचित साधना से उनका कोई सरोकार नहीं। कुछ भिखमंगे वास्तव में बड़े धनी होते हैं। वे पैसे जोड़ते जाते हैं। किन्तु उस जुड़ी धनराशि से एक पैसा भी अपनी सुख-सुविधा के लिए वे खर्च नहीं करते। देखने में वे अत्यन्त दरिद्र, असहाय लगते हैं, किन्तु मरने के पश्चात् उनके फटे चिथड़ों से हजारों रुपये तक की धन-राशि निकलती है। कुछ अयोगाङ्ग से पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी केवल भिखमंगी के लिए ऐसा दिखावा बनाते हैं कि सचमुच ही वे रोगी, अन्धे या बहरे हैं। अस्तु; नई समाज-व्यवस्था यह कभी क्षम्य नहीं मान सकती कि धर्म या पुण्य के नाम पर इस प्रकार अयोग्य दान-पात्रों की फौज बढ़कर देश के लिए अभिशाप बनती रहे।

त्याग और दान

जहाँ हम दान के आध्यात्मिक चिन्तन में उतरते हैं, वहाँ दान का महत्त्व मिलता है, किन्तु वह दान कैसा हो यही समझ लेना सर्वसाधारण ने भुला दिया है। सर्वचिन्तक आज भी उसी गहराई में डूबते हैं। आचार्य विनोबाभावे "त्याग और दान" शीर्षक लेख में लिखते हैं[१]—"एक आदमी ने अधेपन से पैसा कमाया है। उसे द्रव्य का लोभ है फिर भी नाम का कहिए या परोपकार का कहिए लाखा रुपया है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान धर्म के लिए—इसीमें देना को भी दे लीजिए खर्च किया हुआ धन ब्याज समेत वापस मिल जाता है। इसलिए वह इस काम में खुले हाथों खर्च करता है। एक दूसरे आदमी ने इसी तरह सच्चाई से पैसा कमाया था, लेकिन इसमें उसे सन्तोष नहीं होता था। उसने एक बार बाग के लिए कुआँ खुदवाया। कुआँ बहुत गहरा था। कुआँ जितना गहरा था इससे निकली चीजों (मिट्टी, पत्थर) का ढेर भी उतना ही ऊँचा चला गया। वह सोचने लगा कि मेरी—तिजोरी में भी पैसे का एक ऐसा ही टीला लगा हुआ है। उसी अनुपात से किसी जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया है? इस विचार से उस पर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि व्यावहारिक सच्चाई की रक्षा मैंने भले ही की हो फिर भी इस बालू की बुनियाद पर मेरा मकान कब तक टिक सकेगा? अंत में पत्थर, मिट्टी और माणिक, मोतियों में उसे कोई फर्क दिखाई न दिया। यह सोचकर कि फिजूल का कूड़ा-कचरा भरकर रखने से क्या लाभ? उसने अपना सारा धन गंगा में बहा दिया। उससे कोई-कोई पूछते हैं "दान ही क्यों न कर दिया"? वह जवाब देता है—दान करते समय पात्र को देखना पड़ता है। अपात्र को देने से धर्म के बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगा का पात्र मिल गया। उसमें मैंने दान कर

१. 'विनोबा के विचार' संस्करण चौथा पृ० ४०६

दिया। इससे भी संक्षेप में वह इतना ही कहता है "कूड़े-कचरे का भी कहीं दान किया जाता है"। उसका अन्तिम उत्तर है "मौन"। इस तरह उसके सम्पत्ति-त्याग से सब सगों ने उसका परित्याग कर दिया। पहली मिसाल दान की है, दूसरी त्याग की। आज के जमाने में पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है।

त्याग और दान के इसी विचार को विनोबा एक दिलचस्प उदाहरण से और भी स्पष्ट कर देते हैं[१]—पुराने जमाने में आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसी के अधीन न था। एक बार आदमी को कोई जल्दी का काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देर के लिए घोड़े से उसकी पीठ किराये पर मांगी। घोड़े ने भी पड़ोसी के धर्म को सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमी ने कहा—तेरी पीठ पर मैं यों नहीं बैठ सकता। तू लगाम लगाने दे तभी मैं बैठ पाऊंगा। लगाम लगाकर मनुष्य उस पर सवार हो गया और घोड़े ने भी थोड़े समय में उसका काम बजा दिया। अब करार के माफिक घोड़े की पीठ खाली करनी चाहिए थी; पर आदमी से लोभ न छूटता था। वह कहता है—"हाँ तुमने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी नहीं भूलूंगा। तेरे लिए घुड़साल बनाऊंगा, तुझे दाना, घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा, वह करूंगा, पर छोड़ने की बात मुझसे न कहना। घोड़ा त्याग चाहता था; आदमी दान की बातें कर रहा था—भले आदमी कम-से-कम अपना करार तो पूरा होने दे।"

सच बात तो यह है कि शास्त्रकारों ने आध्यात्मिक दान पर ही बल दिया है जो देश, काल और पात्र की सीमा से मर्यादित है और उन्होंने तो समय-समय पर सभीप्रकार के दानों को चुनौती भी दी है। भगवान् श्री महावीर कहते हैं—"जो असंयमी, अव्रती व्यक्ति को भोजन, पानी

१—'विनोबा के विचार' संस्करण चौथा पृष्ठ ४६।

त्याग और दान

जहाँ हम दान के आध्यात्मिक चिन्तन में उतरते हैं, वहाँ दान का महत्त्व मिलता है, किन्तु वह दान कैसा हो यही समझ लेना सर्वसाधारण ने भुला दिया है। तत्त्वचिन्तक मात्र भी उसी गहराई में बैठते हैं। आचार्य विनोबाभावे "त्याग और दान" शीर्षक लेख में लिखते हैं[१]—"एक आदमी ने अलेपन से पैसा कमाया है। उसे द्रव्य का लोभ है फिर भी नाम का कहिए या परोपकार का कहिए खासा ख्याल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान धर्म के लिए—इसीमें देश को भी ले लीजिए खर्च किया हुआ धन ब्याज समेत वापस मिल जाता है। इसलिए वह इस काम में खुले हाथों खर्च करता है। एक दूसरे आदमी ने इसी तरह सच्चाई से पैसा कमाया था, लेकिन इसमें उसे सन्तोष नहीं होता था। उसने एक बार बाग के लिए कुआँ खुदवाया। कुआँ बहुत गहरा था। कुआँ जितना गहरा था इससे निकली चीजों (मिट्टी, पत्थर) का ढेर भी उतना ही ऊँचा चला गया। वह सोचने लगा कि मेरी—तिजोरी में भी पैसे का एक ऐसा ही टीला लगा हुआ है। उसी अनुपात से किसी जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड गया है? इस विचार ने उस पर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि व्यापारिक सच्चाई की रक्षा मैंने भले ही की हो फिर भी इस बालू की बुनियाद पर मेरा मकान कब तक टिक सकेगा? अंत में पत्थर, मिट्टी और माणिक, मोतियों में उसे कोई फर्क दिखाई न दिया। यह सोचकर कि फिजूल का कूड़ा-कचरा भरकर रखने से क्या लाभ? उसने अपना सारा धन गंगा में बहा दिया। उससे कोई-कोई पूछते हैं "दान ही क्यों न कर दिया"? वह जवाब देता है—दान करते समय पात्र को देखना पड़ता है। अपात्र को देने से धर्म के बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगा का पात्र मिल गया। उसमें मैंने दान कर

---

१. 'विनोबा के विचार' संस्करण चौथा पृ० ४-६

दिया। इससे भी संक्षेप में वह इतना ही कहता है "कूड़े-कचरे का भी कहीं दान किया जाता है"। उसका अन्तिम उत्तर है "मौन"। इस तरह इसके सम्पत्ति-त्याग से सब सर्पों ने उसका परित्याग कर दिया। पहली मिसाल दान की है, दूसरी त्याग की। आज के जमाने में पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है।

त्याग और दान के इसी विचार को विनोबा एक दिलचस्प उदाहरण से और भी स्पष्ट कर देते हैं[1]—पुराने जमाने में आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसी के अधीन न था। एक बार आदमी को कोई जल्दी का काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देर के लिए घोड़े से उसकी पीठ किराये पर माँगी। घोड़े ने भी पड़ोसी के धर्म को सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमी ने कहा—तेरी पीठ पर मैं यों नहीं बैठ सकता। तू लगाम लगाने दे तभी मैं बैठ सकूंगा। लगाम लगाकर मनुष्य उस पर सवार हो गया और घोड़े ने भी थोड़े समय में उसका काम बजा दिया। अब करार के मुताबिक घोड़े की पीठ खाली करनी चाहिए थी; पर आदमी से लोभ न छूटता था। वह कहता है—"हाँ तुमने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करोगा) इसे मैं कभी नहीं भूलूंगा। तेरे लिए घुड़साल बनाऊँगा, तुझे दाना, घास दूंगा, पानी पिलाऊँगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा, वह करूंगा; पर छोड़ने की बात मुझसे न कहना। घोड़ा त्याग चाहता था; आदमी दान की बातें कर रहा था—अरे आदमी कम-से-कम अपना करार तो पूरा होने दे।"

सच बात तो यह है कि शास्त्रकारों ने आध्यात्मिक दान पर ही बल दिया है जो देश, काल और पात्र की सीमा में मर्यादित है और उन्होंने तो समय-समय पर तथाप्रकार के दानों को चुनौती भी दी है। भगवान् श्री महावीर कहते हैं—"जो असंयमी, अव्रती व्यक्ति को भोजन, पानी

१—'विनोबा के विचार' संस्करण चौथा पृष्ठ ४६।

आदि कुछ दान किया जाता है, वह एकान्त पाप कर्म है और पाप-मुक्ति का मार्ग नहीं है।"

समाज-व्यवस्था में मांगकर खाना या तथाप्रकार के अकर्मण्य व्यक्तियों को किसी भी लालच से खिलाना समाज-शास्त्र के नियमों में नहीं आ सकता। प्राचीन काल में भी धर्म और आध्यात्मिकता-प्रधान भारतवर्ष में केवल ऋषि-मुनि व सन्यासरत आत्माओं के भिक्षाजीवी होने की उपादेयता रही और उन्हें ही यथाविधि दान करने का महत्पुण्य गाया गया है। समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिए भिक्षाजीवी होना स्वयं एक पाप है। इसी विचार को आचार्य विनोबा भावे अपने शब्दों में लिखते हैं[2]—"दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासीको— जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रंगा हुआ है। ऐसे सन्यासी को यह अधिकार है; क्योंकि ऊपर से देखने में भले ही ऐसा मालूम पड़ता हो कि वह कुछ नहीं करता, पर अनेक दूसरी बातों से वह समाज की सेवा किया करता है। पर ऐसे सन्यासी को छोड़कर किसी को अकर्मण्य रहने का अधिकार नहीं है।" इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से भी समाज-शास्त्र के नियम से प्रचलित दान-प्रथा का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

भूमिदान

देश में आजकल भूमिदान, सम्पत्तिदान आदि आन्दोलनों की सुविस्तृत चर्चा है। इस प्रसंग में हम उस ओर भी कुछ दृष्टिपात करें तो

१. समणोवासगस्स णं भन्ते! तहारूवं असंजयअविरयअपडिहयअपच्चक्खाय-पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असणपाण जाव किं कज्जइ? गोयमा! एगन्तसो से पावेकम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

(भगवती शतक ८ उद्देशक ६)

२. 'विनोबा के विचार' पृ० ४६

यह सर्वांगीण विवेचन के लिए प्रासंगिक ही होगा। भूमिदान, सम्पत्तिदान आदि प्रवृत्तियों को लेकर आचार्य विनोबा भावे जनता के सामने समय-समय पर स्पष्टीकरण रखा करते हैं—"मेरा दान हीनता व गर्व को पोषण देने वाला दान नहीं है, यह तो अधिकार मात्र का प्रतिपादन है और उसके नीचे यह भूमि है कि भूमिदान और सम्पत्तिदान करने वाला व्यक्ति कभी यह न सोचे कि मैं कुछ महान् हूँ और गरीब भाइयों पर कोई दया कर रहा हूँ; क्योंकि भूमि हवा और पानी की तरह सबकी है। हवा को मनुष्य उस मर्यादा में ही भरती वह सकता है कि वह उसके श्वास के लिए आवश्यक है। पानी भी उतना ही उसका है, जितना वह पी सकता है। इसी प्रकार भूमि भी देश की औसतन मर्यादा से ही उसकी है। इससे अधिक उसका जो संग्रह है, वह उसके सामर्थ्य का दुरुपयोग और सामाजिक व्यवस्था भंग है। अतः देनेवाले को यह सोचना चाहिए कि मैं अपने भाई को उसका अधिकार दे रहा हूँ।" यहाँ दान का वास्तविक अर्थ बँटवारा है जो कि प्रचलित दान से सर्वथा निरपेक्ष है।

शब्द और परिभाषा का विवेचन यहाँ भी अपरिहार्य है। शुभारम्भ तो यह होता कि "भूमि संविभाग" शब्द का प्रयोग होता। लगता है, दान शब्द का व्यवहार करके यहाँ भी कुछ जनता के बद्धमूल संस्कारों से उद्देश्य सिद्धि की बात सहज समझी गई है, क्योंकि सर्वसाधारण जितने दान शब्द से चिपटे हैं, उतने अधिकार या संविभाग शब्द से नहीं। तथापि सुदूर भविष्य के लिए यह इतना श्रेयस्कर नहीं हुआ। यह तो इतिहास में इन्हीं उपक्रमों की पुनरावृत्ति हुई, जिस समय लोगों ने सामयिक समस्याओं को धर्म कहकर सुलझाया और जनता इन बातों को ऐसे पकड़ बैठी कि उनके विरुद्ध परिणाम आज वरदान न होकर अभिशाप सिद्ध हो रहे हैं। आवश्यकता तो थी कि जब दान शब्द में यह व हीनता का भाव इस प्रकार भर गया है कि वह निकाले भी नहीं निकलता और जो दान शब्द प्रगतिशील युग में बहुत कुछ हेय सिद्ध हो रहा है, उससे जनता का बद्धमूल व्यामोह हटाकर शब्द और परिभाषा में स्पष्ट और एक-

कोई मार्ग-दर्शन दिया जाता। आशा है चिन्तन के क्षेत्र में यह पुनरालोचन का विषय होगा।

सेवा नहीं व्यवस्था

दान और दया का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। जहाँ दान है, वहाँ उसके पीछे दया की भित्ति है। जहाँ से दया उद्भूत होती है, वहीं से दान का आरम्भ है। किन्तु यह बात शास्त्रोक्त सुपात्र दान के विषय में लागू नहीं है, क्योंकि वहाँ सर्वारम्भ परित्यागी जितेन्द्रिय मुमुक्षु जो भिक्षा ग्रहण करते हैं, वह दीन-वृत्ति से नहीं[1]। उसे मिलने और न मिलने की कोई परवाह नहीं होती। उसकी वृत्ति में सिंह का-सा स्वाभिमान होता है। उसे जो भक्त-जन दान करते हैं, वह दान केवल कहने भर को ही है। वहाँ वह यह नहीं मानता कि मैं साधु को देकर उस पर कोई अनुग्रह कर रहा हूँ, प्रत्युत वह यह समझता है अकिंचन तपस्वी ने मेरे यहाँ से कुछ भिक्षा लेकर मुझे पूर्ण अनुगृहीत किया है। पर समाज में प्रचलित दान के साथ तो दया की बात जुड़ी ही रहती है। वहाँ व्यक्ति या संस्था को दान देकर व्यक्ति यह सोचने का अवसर पाता है—"मैंने गरीब व असहायों के लिए कुछ दिया है।" अतः प्रस्तुत निबन्ध में दान की विवक्षा में दया और दया की विवक्षा में दान सर्वत्र अन्तर्भूत है। वर्तमान युग में जब से यह एक सर्वसम्मत तथ्य बना कि दान और दया के साथ जो अहं और हीनता का भाव जुड़ गया है, वह उस सारी अच्छाई को निगले जा रहा है; तब से दया के स्थान पर सेवा शब्द आया। अर्थात् दान व दया करने वाला यह न माने कि मैं किसी पर अनुग्रह कर रहा हूँ प्रत्युत वह यह माने कि मैं सबका सेवक हूँ और सबकी सेवा कर रहा हूँ। फिर भी वर्तमान का व्यवहार तो यह बताता

१—अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीएज्जा पण्डिए।
अमुच्छिओ भोयणंमि मायन्ने एसणारए॥ दशवै० ५।२।२६।

है कि दया के स्थान पर सेवा शब्द तो प्रचार में आया, किन्तु सेवा शब्द के साथ जुड़ी आत्म-त्याग की भावना यथार्थ रूप में नहीं आई। सेवा के इस युग में हजारों सार्वजनिक कार्यकर्ता निकल पड़े हैं और हजारों धनी समाज-हित के लिए अपना बहुत-कुछ न्योछावर करने लगे हैं। किन्तु लगता है, सार्वजनिक सेवा में लगे व्यक्तियों के हृदय में सेवा से भी अधिक अपने-आपको लोकप्रिय बना लेने की लिप्सा है। लोकप्रियता अन्तस्त-प्रशंसी का वह मद है जो पुजारों की वेदी पर लाकर खाने पर मान, अधिकार और सम्मान आदि सब कुछ देता है। चरित्र, विद्वत्ता, व्यवहार-कुशलता आदि योग्यताओं के रूप उतने मददगार नहीं होते, जितना लोकप्रियता का। समाज में सेवा के लिए सेवा करने वाले कितने व्यक्ति हैं और मान, अधिकार के विनिमय के लिए सेवा का व्रत ग्रहण करने वाले कितने?

इसका तात्पर्य यह नहीं कि बहुत सारी संस्थाएँ और बहुत सारे कार्यकर्ता सेवा के लिए सेवा नहीं कर रहे हैं। भारतवर्ष में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के सिद्धान्त को ही अपने जीवन का महामन्त्र मानकर चलते हैं। जहाँ तक चालू समाज-व्यवस्था का प्रश्न है, वहाँ कोई भी विचारक तो यह नहीं होगा कि समाज के नानाप्रकार के कार्यकर्ताओं एवं नानाप्रकार की सेवा-मूलक प्रवृत्तियों की कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं है; किन्तु प्रश्न है आज नवीन समाज-व्यवस्था का। जब नये सिरे से एक नये समाज का निर्माण युग के नवीन चिन्तन के आधार पर हो रहा है, वहाँ समाज मान-सिक सेवा नहीं व्यवस्था को चाहेगा। अब तक एक आधे राष्ट्र को छोड़-कर प्रायः पूर्व व पश्चिम के सभी देशों में सेवाभावी व्यक्तियों, कार्यकर्ताओं तथा संस्थाओं के योगदान से पाठशालाएँ और विश्वविद्यालय, कुएँ, तालाब, प्याऊ और बावड़ी, वाचनालय और पुस्तकालय (लायब्रेरियाँ) औषधालय और चिकित्सालय (हास्पिटल्स) सड़कें और पुलियाँ, सदाव्रत और अन्नछत्र आदि प्रवृत्तियाँ चलती हैं, पर इनमें सेवा की किसी भी

समस्या का मौलिक हल नहीं निकलता। क्योंकि ये सारी व्यवस्थाएं आवश्यकता की दृष्टि से न होकर दानियों व कार्यकर्ताओं के सेवाभाव की पूरक होती हैं। उदाहरणार्थ—एक गाँव है। वहाँ एक धर्मशाला, एक पाठशाला व एक लायब्रेरी पर्याप्त है, पर यदि वहाँ बहुत सारे सम्पन्न व्यक्ति व कार्यकर्ता रह रहे हैं तो वहाँ अनेकों धर्मशालाएँ, पाठशालाएँ आदि अवश्य हो जायेंगी। यदि वही गाँव सामान्य कर्मकरों की बस्ती है व वहाँ ऐसे कार्यकर्ताओं की कमी है जो दूसरे गाँव से भी धन बटोरकर ला सकें तो उस गांव मे पर्याप्त पाठशालाएँ आदि भी नही बन पाएँगी। इसका अर्थ होगा कि पडोसी दो गाँवो मे दो प्रकार की स्थितियाँ पैदा हो जायेगी। यही हाल एक ही देश व प्रान्त के विभिन्न भागो में होगा। प्रश्न हो सकता है क्या सेवाभावी लोग अपने आप अपने देश व प्रान्त मे शिक्षा, पानी, चिकित्सा आदि के विषय में एक सामान्य अनुपात नही बिठा लेंगे? यह असम्भव होगा, क्योंकि वहाँ एक नियामकता नही है। एक सरकार अपने राज्य मे ऐसा अनुपात बिठा सकती है: क्योंकि वहाँ एक व्यवस्था है। अभी तो स्थिति यह है कि पानी, स्वास्थ्य व शिक्षा आदि की व्यवस्था का भार शासकवर्ग ने केवल सार्वजनिक संस्थाओं पर ही नही छोड़ रखा है, वे स्वयं भी इस विषय मे अपने आपको उत्तरदायी समझते हैं और यथासम्भव उसमे हाथ बँटाते हैं। सेवाभावी संस्थाओं के आधार पर देश की कैसी व्यवस्था बनती है, यह तो तब पता चलता जब शासक-समुदाय जीवन की उन समस्याओं को केवल सेवाभावी संस्थाओं (राम भरोसे) पर छोड़ देता। अस्तु, सेवाभावी संस्थाओं की उपयोगिता आज के युग मे यहीं तक मर्यादित है कि जब तक राज्य-व्यवस्थायें जीवन-यापन की उक्त आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अपने आपको समर्थ न बना लें। आज हरएक राज्य-व्यवस्था ने इन कामों को अपने पर लिया है, पर वह उतना आर्थिक सामर्थ्य नहीं पा रही है। इसीलिए इस नई व्यवस्था व प्राचीन व्यवस्था के सन्धिकाल मे सेवाभावी संस्थाओं तथा राजकीय उपक्रमों का समझौता चल रहा है।

दूसरी बात यह है कि सेवा-कारुण्य का सारा सिद्धान्त ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अशुद्ध है। जहाँ बच्चों को जन्म से ही यह सिखलाया जाता है और इसे ही समाज का नारा बना दिया जाता है कि दूसरों का कष्ट दूर करो, गरीबों को दान दो आदि-आदि; वहाँ परोक्षतः समाज में दुःख, दर्द और पीड़ा बनी रहे, यह स्वीकार कर लिया जाता है; क्योंकि सेवा स्वयं इन्हीं पर आधारित है। गरीबी, रोग, पीड़ा आदि समाज में न हों तो सेवा की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

सिद्धान्त की दुर्बलता यहाँ झलकती है जहाँ 'सबकी सेवा करो' के बदले समाज का नारा हो 'किसी को कष्ट न दो', 'सबकी रक्षा करो' के बदले नारा हो 'किसी को मत मारो,' 'गरीबों को दान दो' के बदले नारा हो 'संग्रह मत करो'। सामान्य दृष्टि से इन सामुदायिक घोषों में कोई अन्तर नहीं लगता, पर गहराई से सोचने से वहां रात और दिन-सा भेद समझ में आता है। पहले नारे में रोग का इलाज है, दूसरे में रोग पैदा ही न हो ऐसा बन्दोबस्त है। उदाहरणार्थ—'दान दो' इस घोष का समाज पर प्रभाव पड़ेगा; जो गरीब है उन्हें दान मिलता रहेगा पर उससे उन्हें एक क्षणिक आराम होगा, उनके रोग को मूल से नहीं काटेगा। जो मिला वह खाया; फिर गरीब! इस प्रकार फिर दान फिर गरीब, फिर दान फिर गरीब की अनवस्था का प्रसंग सदा के लिए चलता ही रहेगा। 'दान दो' का प्रतिपक्षी नारा है 'संग्रह मत करो'। यह समस्या के मूल पर पहुँचता है। गरीबी व अमीरी, गड्ढा व ढेर इसी संग्रह-वृत्ति की देन है। यदि समाज का हरएक व्यक्ति अपनी औसतन आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करेगा तो दान लेने व देने की कोई भी स्थिति पैदा नहीं होगी। कोई किसी की सेवा (दया) या दान पर नहीं जीयेगा। उस समय सारा समाज स्वतन्त्रता, समानता और विश्व-प्रेम की तिपाई पर अवस्थान करेगा।

समाजवादी जीवन-व्यवस्था

स्वतन्त्र भारत के नवनिर्माण को लेकर कांग्रेस के अध्यक्षपद से पं॰ जवाहरलाल नेहरू समाजवादी व्यवस्था की उद्घोषणा कर चुके हैं। सर्वोदय के संचालक आचार्य विनोबा भावे भी उस घोषणा के साथ यह कहकर "समाजवाद का सम्बन्ध हिंसासे छूटकर अब अहिंसा से जुड़ गया तो वह सर्वोदयवाद ही हो गया है" संगति बिठा रहे हैं। यह स्थिति किसी भी समाज-शास्त्री से छिपी नहीं है कि समाज-वाद की अन्तिम मंजिल पर जहाँ उत्पादन के साधन, उत्पाद्य वस्तु और भूमि आदि जीवन के प्रत्येक उपकरण समाज के हैं और समाज का प्रत्येक व्यक्ति समुचित श्रम देकर संविभाग पाने का अधिकारी है, उस व्यवस्था में वहाँ की जनता के स्वास्थ्य, शिक्षा व अन्न, वस्त्र की चिन्ता राज्य-व्यवस्था अपने पर ले लेती है; वैयक्तिक दान की व संस्था विशेष के रूप में सेवा कार्य की वहाँ कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। कुछ लोगों का यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसी व्यवस्था सफल हो गई तो अनादिकाल से चलनेवाले दान और सेवा (दया) धर्म का लोप ही हो जायगा। किन्तु उन्हें अब युग के साथ अपने विशाल दृष्टिकोण से हरएक बात को परखना होगा। स्थिति यह है कि सेवा, दान आदि कार्य सदा से ही समाज के अंग हैं। समाज-व्यवस्था के साथ सामाजिक कर्तव्य याने समाज-धर्म बदलता रहता है, नये-नये युग में उसकी नई-नई परिभाषाएँ बनती रहती हैं। आज तक की समाज-व्यवस्था में दान या सेवादि कार्य समाज धर्म के महत्वपूर्ण अंग थे। नई समाज-व्यवस्था में "एक के लिए सब और सबके लिए एक" के सिद्धान्त को मानते हुए सबके सुख और दुःख की अनुभूति में समान अनुभूति करना, जीवनोपयोगी सामग्री मात्र को वैयक्तिक सम्पत्ति न मानकर देश व समाज की सम्पत्ति मानना व देश में प्रचलित भूमि, धन आदि के वैयक्तिक अधिकारों को वैध प्रयत्नों से

---

२. सर्वोदय सन् ५५ फरवरी

हटाकर सामुदायिक अधिकार में लेना ही सेवा-धर्म—या किसी भी नाम से कहा जानेवाला समाज-धर्म रह जायेगा।

जो लोग यह सोचते हैं कि चिरकाल से प्रचलित दान, दया (सेवा) आदि हमारी आत्मा के शाश्वत धर्म थे, अब वे केवल समाज-धर्म रह जायेंगे तो हमारे लिए मुक्ति का द्वार ही बन्द हो जायेगा। उनके लिए समझने की बात यह है कि पहले और अब में केवल व्यवस्था-भेद ही है। उस व्यवस्था-भेद से अहिंसा-सत्य रूप स्वधर्म का लोप नहीं होता। यदि हम समाज-रचना का एक ऐतिहासिक अध्ययन करते हैं तो वह आज तक व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ती आ रही है। जहाँ व्यक्ति से परिवार बना, वहाँ मनुष्य की ऐसी समझ बनी कि एक परिवार के हम सब एक हैं। इसी समष्टिवाद का आज तक का चरम विकास है कि जैसे अब तक तुम पारिवारिक जनों के बारे में सोचते थे, हम सब एक हैं, अब अपने समस्त देशवासियों के बारे में सोचो कि हम सब एक हैं। इससे भी आगे समष्टिवाद विकसित हुआ तो समाज-व्यवस्था पर पहला नारा यह होगा समस्त मानव जाति एक परिवार है।

पहले जब व्यक्ति अपने परिवार की चिन्ता करता तो परिवार तक समस्त लोगों के लिए भोजन, पानी, रहन-सहन की एक व्यवस्था होती थी। उस समय अपने पारिवारिक बच्चों की शिक्षा के लिए उसे अलग अध्यापक की व्यवस्था करनी पड़ती थी। यदि आस-पास जलाशय न होता तो पारिवारिक जनों के लिए ही एक कुआँ खुदाने की जरूरत पड़ती। किन्तु इस प्रणाली में भी विकास हुआ। शिक्षा की सामुदायिक व्यवस्था के लिए गाँव या मुहल्ले के लोग एक पाठशाला, पानी की पूर्ति के लिए एक कुआँ बनाने लगे। पता नहीं चलता कि जब व्यक्ति परिवार की शिक्षा व पानी की व्यवस्था के लिए अपनी अर्थ-राशि से कुछ खर्च करता था, तब उस पर धर्म या पुण्य की कोई छाप नहीं थी, किन्तु ज्योंही गाँव या मुहल्ले की सामुदायिक शिक्षा व पानी की व्यवस्था के लिए सामुदायिक अर्थ-संग्रह (चन्दा)

की प्रथा चली, त्योंही हरएक चन्दा देनेवाला व्यक्ति अपने आपको धार्मिक अनुभव करने लगा। समाजशास्त्र की दृष्टि से तो वह सुविधावाद था कि जिससे एक-एक परिवार को एक-एक कुआँ व एक-एक पाठशाला का खर्च न उठाना पड़े और अल्प व्यय और अल्प श्रम में समस्त गाँव व मुहल्ले वालों के लिए सबकी एक व्यवस्था बन जाये। व्यवस्था के इस परिवर्तन में ऐसी कोई बात नहीं थी कि उसमें मोमभूत होकर जिसका कि वह स्वयं भी एक फलभोक्ता है, कोई आदमी धार्मिक होने का अहं करे। सामूहिक व्यवस्था में अपने हिस्से का योग दे देना यदि कोई विशेष धर्म है, तब तो तथाप्रकार का धर्म अब किसको मिलेगा, यह केवल प्रश्न ही रह जायेगा, जबकि शासन-व्यवस्थाओं ने शिक्षा और पानी को व्यक्ति-व्यक्ति के लिए सुलभ बना देना अपना दायित्व समझ लिया है। राज्य-व्यवस्था सामूहिक करो से अर्थ-संग्रह करती है और सामूहिक हित के लिए उसका उपयोग करती है और जनतन्त्र की शासन-व्यवस्था स्वयं सामूहिक है। जहाँ व्यवस्था सबकी और सबके लिए हो, वहाँ धर्म और पुण्य किसके द्वारा और किसके लिए? फिर भी यदि सामूहिक व्यवस्था में धर्म और पुण्य का मोह रहता है तो फिर तो वह पारिवारिक व्यवस्था में भी क्यों नहीं मान लिया गया होता, जहाँ सब कमाते हैं और सब खाते हैं या कुछ कमाते हैं और सब खाते हैं।

पाठशाला, कुआँ, चिकित्सालय आदि धर्म और पुण्य के महान् साधन माने जानेवाले कार्य समाजवादी युग में शासन-व्यवस्था के ही अंग बन जाते हैं। समाजवादी शासन-व्यवस्था तथाप्रकार की आवश्यकताओं को केवल संग्रह और शोषण की भित्ति पर खड़े हुए धनियों के धर्म व पुण्य कमाने के लिए नहीं छोड़कर उसे अपने दायित्व का विषय बना लेगी। नई जीवन-व्यवस्था के निर्माण में अपेक्षा है कि आज जन-जन अपने बद्धमूल संस्कारों से ऊँचे उठकर के नये आलोक में जीवन के नये मूल्यों की खोज निकालें।